Plagiarism Checker X - Report

Originality Assessment

0%

Overall Similarity

Date: Dec 1, 2023
Matches: 0 / 2123 words
Sources: 0

Remarks: No similarity found, your document looks healthy.

Verify Report:
Scan this QR Code

जे0 एस0 वशि्ववद्यिालय

शकिोहाबाद फरिोजाबाद

कृष्णवीर सहि

योग वभिाग

जे0एस0 वशि्ववद्यिालय

शकिोहाबाद, फरि0

योगमय श्रीमद्भागवदगीता की समीक्षा

प्राचीन साहत्यि में उपलब्ध शक्षिा प्रणाली पर दृष्टक्षिेप करनें से शारीरकि शक्षिा संस्कृत,ि वज्ञिान और कला का सुव्यवस्थति तथा सुनयिोजति रूप सामने आता हैं। शक्षिा पाठ्यक्रम को देखने से स्वास्थ्य, शारीरकि दक्षता और मनोरंजन का संयुक्त रूप दखिाई देता हैं। उस समय आयुर्वेद, धनुर्वेद और गन्धर्ववेद, जों पाठ्यक्रम में सम्मलिति थें, इन सभी का अध्ययन करने पर स्वास्थ्य, बल संवर्धन, शारीरकि दक्षता तथा मनोरंजन का ज्ञान होता हैं। इन तीनों उपवेदो के अतरिक्ति योगाभ्यास, ब्रंह्मचर्य के नयिम तथा गीता के कर्मरत् रहने के वैज्ञानकि व दार्शनकि सद्विान्तों ने व्यक्तकि े शारीरकि और मानसकि स्वास्थ्य को प्राप्त करनें में तथा नैतकि और आध्यात्मकि वकिास प्राप्त करने में महान योगदान दयिा हैं। शरीर, मन और आत्मा के दर्शन से भली-भांतपिरचिति हों जानें के पश्चात् तथा जीवन में स्वास्थ्य, बल और मनोरंजन का दर्शन प्राप्त कर लेने के बाद अब हमें प्राचीन साहत्यि में उपलब्ध वभिन्नि प्रकार की योग का भी दर्शन प्राप्त होता है। प्राचीन भारत में योग के अन्तर्गत शरीर, मन और आत्मा इन तीनों को सम्मलिति कयिा गया था ताकि व्यक्तकि ा शारीरकि, मानसकि और आत्मकि वकिास हो सके। शारीरकि धरातल पर देखा जाए तो जो व्यक्तकि र्म में वशि्वास रखते हुए कर्म

करते चला जाए वह 'योगी' हैं।अपने जीवन में कर्म को स्थान देने वाला योगी व्यक्तियों में श्रेष्ठ होता है। कर्म के साथ-साथ जिनकी स्मृति परमात्मा में होती हैं वे योगियों में 'परमश्रेष्ठ योगी' समझे जाते हैं। जो योगी मानसिकरूपेण विचलित नहीं होता वह काम, क्रोध इत्यादि संवेगों पर विजय प्राप्त करनेवाला होता हैं। इस प्रकार शरीर, मन और आत्मा के धरातल पर जो व्यक्ति परिपिक्व हैं वही योगी समझा गया हैं। योग यह शब्द 'युज' इस धातु से लिया गया हैं इसलिए इसका अर्थ जोड़, एकत्रीकरण, संगति हैं। गीता के अनुसार- ''आत्मा में स्थिति होकर सहज ही परमात्मा से मन को जोड़ना तथा परमात्मा से संस्पर्श करके आंतरिक सुख व अनंत आनंद में स्थिति होना 'योग' हैं।'' दरअसल 'योग' मन पर नियंत्रण रखने की प्रक्रिया हैं। शरीर और मन की स्थिरता से व्यक्ति योग की ओर अग्रसर होता हैं। इस योग में व्यक्ति प्रमोदरहित हो जाता हैं। मन को संयम में रखकर कर्म करने से योग प्रारम्भ होता हैं। शरीर, मन और आत्मा इन तीनों के संयोग का नाम योग हैं। योग व्यक्ति के सर्वांगीण विकास में सहायक होता हैं। गीता में दर्शाया गया योग विकासोन्मुख, व्यापक और बहुउद्देशीय स्वरूप का हैं। योग से व्यक्ति अपने इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित कर सकता हैं, कार्यक्षम बन सकता हैं तथा शारीरिक और मानसिक दक्षता को प्राप्त कर शांतिप्रिय हो सकता हैं। योग प्राचीन काल में शांति, दीर्घायु व आरोग्य प्रदान करने वाला था जिसका लाभ प्राचीन भारतीय उठाया करतें थें। वैसे तो प्राचीन साहित्यो का प्रमुख ग्रन्थ 'गीता' यह योग दर्शन का महान ग्रन्थ हैं जिसमें सभी अध्याय विभिन्न विषयों पर योग दर्शन की गहनतम विचारधारा को प्रस्तुत करतें हैं, फिर भी शारीरिक शिक्षा की दृष्टि से गीता में प्रतिपादित योग के प्रमुखतः तीन प्रकार दृगोचर होते हैं- 1) ज्ञान योग, 2) कर्म योग, 3) ध्यान योग। इस प्रकार गीता और महाभारत में दर्शाए गये योग में हमें शरीर, मन और इंन्द्रियों के द्वारा होनेवाली क्रियाओं में एकरूपता का दर्शन उपलब्ध होता हैं। शारीरिक शिक्षा के दृष्टिकोण से यदि विचार किया जाए तो इन योग की क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति का स्वस्थ विकास होते दिखाई देता हैं। व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और बौद्विक विकास में इन योग क्रियाओं का महत्वपूर्ण योगदान हैं। इसी प्रकार गीता और महाभारत में कई प्रकार के योग की मीमांसा हैं जैसे-सांख्य योग, कर्म योग, सन्यास योग, ज्ञान-विज्ञान योग, ब्रह्म योग, भक्ति योग व ध्यान योग आदि, इनमें शरीर और मन को संतुलित रखने के दृष्टिकोण से ध्यान का महत्व अधिक हैं। योग का एक महत्वपूर्ण नियम शरीर के बाहरी और आंतरिक शुद्वि और आत्मतुष्टि हैं। बाहरी शुद्वि में शरीर की स्वच्छता, इन्द्रियों पर नियंत्रण, उत्तम कर्मों का आचरण, स्वधर्म का पालन, अहिंसा अर्थात मन, वाणी और शरीर से किसी को कष्ट न देना, आदि सम्मिलित होते हैं। आन्तरिक शुद्वि का अर्थ हैं छल, कपट, राग, द्वेष, क्रोध, मोह, अहंकार, शोक इत्यादि से मुक्त रहना तथा आत्मतुष्टि का अर्थ सभी परिस्थितियों में संतुष्ट रहते हुए कर्म करना। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा

सकता हैं कि प्राचीन साहित्यो में उपलब्ध योग से सम्बन्धित दार्शनिक अभिव्यक्ति यह जीवन की उच्चतम और आदर्श पराकाष्ठा हैं।

भारत में योग के अन्तर्गत शरीर, मन और आत्मा इन तीनों को सम्मिलित किया गया था ताकि व्यक्ति का शारीरिक, मानसिक और आत्मिक विकास हो सके। शारीरिक धरातल पर देखा जाए तो जो व्यक्ति कर्म में विश्वास रखते हुए कर्म करते चला जाए वह 'योगी' हैं।अपने जीवन में कर्म को स्थान देने वाला योगी व्यक्तियों में श्रेष्ठ होता है।कर्म के साथ-साथ जिनकी स्मृति परमात्मा में होती हैं वे योगियों में 'परमश्रेष्ठ योगी' समझे जाते हैं।जो योगी मानसिकरूपेण विचलित नहीं होता वह काम, क्रोध इत्यादि संवेगों पर विजय प्राप्त करनेवाला होता हैं।इस प्रकार शरीर, मन और आत्मा के धरातल पर जो व्यक्ति परिपक्व हैं वही योगी समझा गया हैं। गीता में योगी के निम्नलिखित लक्षण बताये गयें हैं:- 1. योगी को इन्द्रियों के विषय में राग और द्वेश नहीं होता हैं। 2. उसकी कोई कामना नहीं होती हैं। 3. वह बाहर और भीतर से शुद्ध होता हैं। 4. वह शुभ (सफलता) और अशुभ (असफलता) में समान होता हैं। 5. वह शत्रु-मित्र, सुख-दुख तथा सर्दी-गर्मी में समान भाव वाला होता हैं। 6. वह आत्म-संतुष्ट होता हैं। 7. वह कर्म फल का त्यागी होता हैं। वह लोकहित के लिए कर्म करता हैं। 8. वह शांतिप्रिय होता हैं। 9. वह विकार रहित होता हैं। 10. वह शरीर और मन को नियंत्रण में रखने वाला होता हैं।

योग यह प्राचीन भारतीयों के मोक्ष प्राप्ति का साधन बन गया था। वेदों व उपनिषदों में भी योग दर्शन को आत्म तत्व का साक्षात्कार बताया हैं। यद्यपि प्राचीन कृष्ण साहित्य में योग को पूर्णतःआध्यात्मिक धरातल पर अवतरित किया हैं, फिर भी योग द्वारा शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य के महत्व को वंचित नहीं किया गया। बल्कि शारीरिक क्रियाओं के क्षेत्र में योग के महत्व को सुदृढ को शुद्ध अंतकरण वाला पुरूष समत्व बुद्विरूप योग की दीर्घकालीन साधना के बाद अपने में अनुभव करता हैं।

2) कर्म योग:- फल और आसक्ति को त्यागकर समत्वबुद्वि से कर्म करने को 'निष्काम कर्म योग' कहा गया हैं।गीता में समत्व भाव को योग कहा गया हैं।समत्व का अर्थ किसी भी कर्म में उसके पूर्ण होने और न होने तथा उसके फल में समभाव रहने का नाम है। इस समभाव को धारण करने वाले कर्म योगी के द्वारा शरीर नियंत्रण में रहता हैं तथा उसका अंतकरण शुद्ध होता हैं।कर्म योग की महत्ता जीवन क्षेत्र में अत्याधिक हैं, क्योंकि बिना कर्म का संपादन किए इस संसार में कुछ भी नहीं हैं। संपूर्ण गीता में कृष्ण ने कर्म योग को आधारभूत और महत्वपूर्ण दर्शाया हैं। कर्म योग सभी प्रकार के योग का आधार हैं और

यह योग का एक ऐसा प्रकार हैं जो व्यक्ति के पूर्ण जीवन और उसके स्वस्थ व्यक्ति की रचना करता हैं।यह एक ऐसा मार्ग हैं जो हमें पूर्ण रूपेण सक्रिय रखते हुए कार्यों के फल को मानवता के प्रति समर्पित करने की सीख देता हैं। 3) ध्यान योग:-'ध्यान योग' यह मन की एकाग्रचित्त स्थिति हैं। इसमें इन्द्रियों पर नियंत्रण स्थापित किया जाता हैं तथा महाभारत में कर्मों को ईश्वर के प्रति समर्पितकिया जाता हैं। 1. द्वेष (एकान्त में आसन लगाना-द्वेष योग) 2. कर्म (आहार-विहार और कर्म नियमित रूप से करना-कर्म योग) 3. अनुराग (परमात्मा की प्राप्ति में तीव्र अनुराग रखना-अनुराग योग) 4. अर्थ (केवल आवश्यक सामग्री रखना-अर्थ योग) 5. उपाय (ध्यानोपयोगी आसन से बैठना-उपाय योग) 6. अपाय (संसार के विषियों से अनासक्त हो जाना-अपाय योग) 7. निश्चय (गुरू एवं वेद शास्त्र पर विश्वास रखना-निश्चय योग) 8. चक्षुश (चक्षु को नासिका के अग्र भाग पर स्थिर करना-चक्षु योग) 9. आहार (शुद्ध और सात्विक भोजन का नाम-आहार योग) 10. संहार (इन्द्रियों पर नियंत्रण रखना-संहार योग) 11. मन (मन को एकाग्र करना-मनोयोग) 12. दर्शन (दुख और दोषों का वैराग्यपूर्वक दर्शन-दर्शन योग) इस प्रकार गीता और महाभारत में दर्शाए गये योग में हमें शरीर, मन और इंन्द्रियों के द्वारा होनेवाली क्रियाओं में एकरूपता का दर्शन उपलब्ध होता हैं। शारीरिक शिक्षा के दृष्टिकोण से यदि विचार किया जाए तो इन योग की क्रियाओं के माध्यम से व्यक्ति का स्वस्थ विकास होते दिखाई देता हैं। व्यक्ति के शारीरिक, मानसिक और बौद्विक विकास में इन योग क्रियाओं का महत्वपूर्ण योगदान हैं। विनोबा भावे के अनुसार योग क्रिया में तीन बातें मुख्य रूप से सम्मिलित हैं - 1) यज्ञ, 2) दान, 3) तप। 'यज्ञ' का उद्धेष्य रचनात्मक कार्यो की पूर्ति, उच्चकोटि के निश्पादन, नए कौषल, नए कार्यो की उत्पत्ति से लिया जाता हैं। हम इस संसार में सिर पर ऋणों का भार लेकर जन्में हैं। अतःइन ऋणों से मुक्त हो जाना ही 'यज्ञ' हैं, तथा समाज की सेवा और उसका विकास करते हुए समाज के ऋण से मुक्त हो जाना 'दान' हैं, तथा शरीर के दोशों को मुक्त करना 'तप' हैं। प्राचीन काल में योग विधि और योग सदि्व प्राचीन साहित्यो का प्रमुख ग्रन्थ गीता में कई प्रकार के योग की मीमांसा हैं जैसे-सांख्य योग, कर्म योग, सन्यास योग, ज्ञान-विज्ञान योग, ब्रह्म योग, भक्ति योग व ध्यान योग आदि, इनमें शरीर और मन को संतुलित रखने के दृष्टिकोण से ध्यान का महत्व अधिक हैं। गीता में ध्यान योग की विधि इस प्रकार दर्षायी हैं - (1) 'अपने आसन पर मृगछाला बिछाना। (2) आसन को न अधिक ऊंचा और न अधिक नीचा करना। (3) स्थिर होकर उस आसन पर बैठना तथा मन को एकाग्र करके चित्त और इंन्द्रियों की क्रियाओं को वष में करते हुए योगाभ्यास करना चाहिए। (4) काया, सिर और ग्रीवा को समान और अचल धारण किए हुए नासिका के अग्रभाग को देखकर अन्य दिशाओं को न देखता हुआ और ब्रह्मचर्य के व्रत में स्थित रहता हुआ भयरहित, शांत और सावधान होकर मन को वष में करके स्थिर होना चाहिए।योगाभ्यास करते समय निर्मल

भाव, मन की शुद्वि और प्रसन्नता आवश्यक हैं। मन की शुद्वि और प्रसन्नता के लिए 'अष्टांग योग' का अधिक महत्व हैं।

पांतांजलयिोग सूत्र में आठ पद्वतयिों का उल्लेख मलिता हैं। वन पर्वमें भी योग के नम्निलखिति आठ अंग दर्षाये हैं - 1. यम 2. नयिम 3. आसन 4. प्राणायाम 5. प्रत्याहार 6. धारणा 7. ध्यान 8. समाधि प्राचीन काल में योग के आधारभूत नयिम (1) इन्द्रयि नग्रिह इन्द्रयि नग्रिह का आशय हैं इन्द्रयिों को नयिंत्रति करना जसिसे मन की चंचलता समाप्त होती हैं। और मन एकाग्र स्थति िको ग्रहण करता हैं तथा इससे बुद्वि भी स्थरि होती हैं। यदि इन्द्रयि नग्रिह-नहीं कयिा तो मन वचिलति होकर वविेक समाप्त हो जाता हैं। यह नयिंत्रण 'प्राणायाम' नामक आंतरकि क्रयिा से कयिा जाता हैं।मन बुद्धि और शरीर ये तीनों एक-दूसरे के पूरक हैं ताकि इन तीनों का एक-दूसरे से घनष्ठि सम्बन्ध हैं। मन के नयिंत्रति अवस्था में वविेक जागृत होता हैं, बुद्वि स्थरि होकर योग्य नर्णिय ले सकती हैं तथा इसके परणिाम स्वरूप शरीर का संचालन योग्य रीति से हो सकता हैं। (2) ब्रह्मचर्य योग का दूसरा महत्वपूर्ण नयिम ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करना हैं। यद्यपि प्राचीन भारत के साहत्यि में ब्रह्मचर्य में शरीर की शुद्धि, मन की शुद्धि व इन्द्रयिों पर नयिंत्रण स्थापति करने का अभप्रिाय अंतर्भूत हैं, लेकनि गीता में ब्रह्मचर्य को मुख्य रूप से 'काम' नामक वकिारी वृत्ति से मुक्त रहने का आषय व्यक्त कयिा हैं। काम यह आसुरी का लक्षण हैंऔर आसुरी वृत्ति में ब्रह्मचर्य खो जाता हैं। काम काम के द्वारा शारीरकि और मानसकि क्षय होता हैं, साथ ही वह आत्मकि मार्ग में बाधा उत्पन्न करता हैं, इसलिए यह मनुष्य का महा शत्रु हैं जसिका ज्ञान रूपी तलवार से हनन होना चाहिए। (3) सात्वकि और संतुलति आहार तथा वश्रिाम का सुवर्ण नयिम अन्न का शरीर और मन दोनो पर प्रभाव पड़ता हैं। योग में शारीरकि और मानसकि शुद्धि का महत्व हैं, अतःऐसा भोजन लेना चाहिए जसिमें मनुश्य की इन्द्रयिां उग्र स्वरूप की न हो तथा उसका मन शांत बना रहें। ऐसा आहार ग्रहण करना चाहिए जो संयम युक्त हो। चूंकि योगी पूर्णतःस्वभाव से सात्वकि होता हैं इसलिए उसने सात्वकि भोजन लेना चाहिए। ऐसा आहार व्यक्ति में बलवर्द्वक और आरोग्यवर्द्वक होता हैं। जसिसे मन की एकाग्रता सद्वि होती हैं तथा वह अपने कर्तव्य को दक्षतापूर्ण कर सकता हैं। (4) बाहरी व आंतरकि शुद्धि और आत्मतुष्टि योग का एक महत्वपूर्ण नयिम शरीर के बाहरी और आंतरकि शुद्धि और आत्मतुष्टि हैं। बाहरी शुद्धि में शरीर की स्वच्छता, इन्द्रयिों पर नयिंत्रण, उत्तम कर्मों का आचरण, स्वधर्म का पालन, अहसिा अर्थात मन, वाणी और शरीर से कसिी को कष्ट न देना, आदि सम्मलिति होते हैं। आन्तरकि शुद्धि का अर्थ हैं छल, कपट, राग, द्वेश, क्रोध, मोह, अहंकार, शोक इत्यादि से मुक्त रहना तथा आत्मतुष्टि का अर्थ सभी परस्थितियिों में संतुष्ट रहते हुए कर्म करना। उपर्युक्त वविेचन के

आधार पर यह नष्किर्ष नकिाला जा सकता हैं कि प्राचीन साहत्यिो में उपलब्ध योग से सम्न्धति दार्शनकि अभव्यिक्त यिह जीवन की उच्चतम और आदर्श पराकाष्ठा हैं। प्राचीन भारतीयों को जीवन के समस्त अंगों को स्वस्थ एवं वकिसति अवस्था में रखने के लएि योग दर्शन अत्यन्त महत्वपूर्ण सद्धि हुआ होगा।

EXCLUDE CUSTOM MATCHES	OFF
EXCLUDE QUOTES	ON
EXCLUDE BIBLIOGRAPHY	ON